वर्तमान में ऐसे अनेक राजनैतिक-सामाजिक संदर्भ हमारे सामने उपस्थित होते हैं जो हमें अतीत में झांकने को मजबूर/प्रेरित करते हैं। अतीत की यह यात्रा कई बार सांस्कृतिक अस्मिता की खोज में होती है तो कई बार गौरवशाली अतीत को खोज निकालने के प्रयासों में होती है। किसी भी समाज के लिए यह तो आवश्यक है कि अपने विकास के लिए अतीत की पुनर्खोज करे। ऐसा अतीत जो विकासमान प्रक्रिया में समाज को दिशा प्रदान कर सके।

यह लेख प्राक्-औपनिवेशिक तथा औपनिवेशिक भारत में शिक्षा स्थितियों एवं विचारों की पड़ताल करता है। किन्हीं सीधे-सादे निष्कर्षों की बजाए स्वाधीनता आन्दोलन के दौरान शिक्षा स्थितियों एवं प्रचलित मतों को हमारे सम्मुख रखता है।

राष्ट्रवादी आन्दोलन और राष्ट्रवादी शिक्षा

❑ जवरीमल्ल पारख

भारत में आधुनिक शिक्षा प्रणाली के विकास का श्रेय प्राय: अंग्रेजी शासकों को दिया जाता है। अभी हाल ही में हमारे प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह ने ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में डॉक्टरेट की मानद उपाधि ग्रहण करते हुए भारत को लगभग दो सौ साल तक गुलाम बना कर रखने वाले ब्रिटेन के प्रति कृतज्ञता प्रकट की थी कि उसने भारत का परिचय आधुनिक शिक्षा और अंग्रेजी से कराया। उसी की बदौलत भारत आज इतनी प्रगति कर सका है। स्पष्ट ही आर्थिक उदारीकरण के पैरोकार होने के कारण प्रधानमंत्री के लिए इस तरह सोचना स्वाभाविक है। लेकिन विचारकों का एक ऐसा समूह भी रहा है जो भारत की हर मुश्किल के लिए अंग्रेजी शिक्षा को ही दोषी मानता है। इन दो अतिवादी विचारों में से किसी एक का समर्थन करने की बजाए यह देखना उपयुक्त होगा कि भारत में अंग्रेजी शासन के पूर्व किस तरह की शिक्षा प्रणाली प्रचलित थी। अंग्रेज भारत में किस तरह की शिक्षा प्रणाली कायम करना चाहते थे और वे उसे कायम करने में किस हद तक कामयाब रहे ? अंग्रेजों से देश को आजाद कराने का प्रयत्न करने वाले स्वतंत्रता सेनानी भारत में किस तरह की शिक्षा प्रणाली चाहते थे और क्या वे शिक्षा को लेकर एकमत थे ?

शिक्षा संबंधी औपनिवेशिक दृष्टि

प्रधानमंत्री मनमोहन सिंह के विचारों के पीछे यह धारणा काम करती रही है कि अंग्रेजों के आगमन से पूर्व भारत शैक्षिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ था। जिसे शिक्षा प्रणाली कहते हैं उस तरह की कोई प्रणाली यहां नहीं थी और भारत अज्ञान के गहरे अंधेरे में डूबा हुआ था। भारत पर राज करने वाले अंग्रेजी शासक भी ऐसा ही मानते थे। 2 फरवरी 1835 को थॉमस बेबिंग्टन मेकाले ने भारत में अंग्रेजों की शिक्षा नीति के बारे में जो विचार पेश किए उसके पीछे इसी तरह की धारणा काम कर रही थी। मेकाले का मानना था कि, ''भारत और अरब का पूरा देशी साहित्य किसी अच्छे यूरोपीय पुस्तकालय की एक अलमारी की भी बराबरी नहीं कर सकता'' (दि ग्रेट इंडियन डिबेट, पृ. 165)। मेकाले का यह भी विचार था कि यह कहना अतिरंजना पूर्ण नहीं है कि संस्कृत भाषा में लिखी हुई सभी पुस्तकें इंगलैंड में प्रारंभिक स्कूलों की पाठ्यपुस्तकों में दी गई अति मामूली जानकारियों जितनी मूल्यवान भी नहीं हैं (वही, पृ. 165)। जाहिर है कि मेकाले को भारत के बारे में कोई जानकारी नहीं थी, तथ्यों के बजाए वह औपनिवेशिक शासकों की जरूरतों से प्रेरित होकर बोल रहा था और यह बात उसने स्वयं स्पष्ट शब्दों में कह भी दी। मेकाले का मानना था कि, ''हमें भारत में इस तरह के एक वर्ग का निर्माण करने का भरसक प्रयत्न करना चाहिए जो हमारे और उन करोड़ों भारतवासियों के बीच, जिन पर हम शासन करते हैं, समझाने-बुझाने का काम करे। ये लोग ऐसे होने चाहिएं जो केवल रक्त और रंग से भारतीय हों, लेकिन जो अपनी रुचियों, विचारों, आचरणों और सोच में अंग्रेज हों'' (वही, पृ. 171)। मेकाले के इस सोच का असर तत्कालीन गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बेंटिक पर साफ तौर पर दिखाई दिया जिसने 7 मार्च 1835 को आदेश जारी करते हुए यह विचार प्रकट किया कि, ''भारत के लोगों के बीच यूरोपीय साहित्य और विज्ञान को बढ़ावा देना ब्रिटिश सरकार का उद्देश्य होना चाहिए और शिक्षा के लिए जितना भी धन स्वीकृत होता है उसे अंग्रेजी शिक्षा पर खर्च करना ही सबसे उपयुक्त होगा'' (वही, पृ. 195)।

उस समय भारत में यह बहस चल रही थी कि सरकारी धन को संस्कृत आदि भाषाओं के अध्ययन पर खर्च किया जाना चाहिए या अंग्रेजी शिक्षा पर। मेकाले ने कथित पौर्वात्यवादियों की राय से असहमत होते हुए यह विचार प्रस्तुत किया था कि संस्कृत, अरबी आदि एशियाई भाषाओं की बजाए अंग्रेजी की शिक्षा दी जानी चाहिए। मेकाले ने भले ही यह कहा हो कि भारत और अरब में ज्ञान का अभाव है लेकिन जो वास्तविक डर तत्कालीन शासकों में समाया हुआ था, उसकी अभिव्यक्ति चार्ल्स ई. ट्रेविलियन के इस विचार में मिलती है कि यदि भारतवासियों को अरबी और संस्कृत पढ़ाई जाएगी तो वे यह कभी नहीं भूल पाएंगे कि विधर्मी ईसाइयों ने उन पर अपना शासन थोप रखा है। स्वयं उसके शब्दों में, ''...जब तक हिंदोस्तानियों को अपनी पहली स्वाधीनता के विषय में सोचने का मौका मिलता रहेगा, तब तक उनके सामने अपनी दशा सुधारने का एक मात्र उपाय यह रहेगा कि वे अंग्रेजों को तुरंत देश से निकाल कर बाहर कर दें'' (सामाजिक क्रान्ति के दस्तावेज के भाग-1 से उद्धृत, पृ. 503)। इसके विपरीत, ''...अंग्रेजी साहित्य का प्रभाव अंग्रेजी राज के लिए हितकारी हुए बिना नहीं रह सकता। जो भारतीय युवक हमारे साहित्य द्वारा हमसे भली-भांति परिचित हो जाते हैं, वे हमें विदेशी समझना प्राय: बंद कर देते हैं। वे हमारे महापुरुषों का जिक्र उसी उत्साह के साथ करते हैं जिस उत्साह के साथ हम करते हैं'' (वही पृ. 502)। ट्रेविलियन आगे कहता है कि हमारी ही तरह शिक्षित, हमारी ही जैसी रुचि और हमारे ही जैसे रहन-सहन के कारण ये हिंदू कम और अंग्रेज ज्यादा हो जाते हैं। इसके बावजूद अंग्रेजी शासकों को इस बात का डर था कि हिंदुस्तानी आखिरकार अपनी सांस्कृतिक विरासत को खोज ही लेंगे। वे संस्कृत और दूसरी भाषाओं का अध्ययन कर यह जान लेंगे कि वे उतने पिछड़े और असभ्य नहीं हैं जितने कि उनके शासक उन्हें बताना चाहते हैं। इसलिए यह जरूरी है कि अंग्रेज खुद भारतीय भाषाओं और विद्याओं में पारंगत हासिल करें और उनकी इस तरह व्याख्या करें जो अंग्रेजी शासन के लिए हितकारी साबित हो। ईसाई धर्म प्रचारक विलियम केरी ने जिन्होंने 1800 में श्रीरामपुर मिशन की स्थापना की थी, इसी दृष्टि से संस्कृत के अध्ययन को मूल्यवान बताया था। जाहिर है कि औपनिवेशिक शासन के दौरान भारतीय सभ्यता और संस्कृति के बारे में जो कार्य अंग्रेजी शासकों द्वारा किया गया उसके पीछे यही औपनिवेशिक नीति काम कर रही थी।

कीनिया के महान लेखक और विचारक न्गुगी वा थ्योंगो ने उपनिवेशवाद को परिभाषित करते हुए लिखा था, ''...उपनिवेशवाद वह स्थिति है जिसमें किसी राष्ट्र अथवा देश का सत्ताधारी वर्ग अपने शासन और प्रभुत्व को दूसरे राष्ट्र और देश पर थोप देता है और उपनिवेश बनी धरती के अन्य सभी वर्गों का उत्पीड़न करता है तथा उन्हें अपना गुलाम बना लेता है। उसका उद्देश्य संबद्ध उपनिवेश की उत्पादक शक्तियों और इस प्रकार उपनिवेश की जनता द्वारा उत्पादित संपदा पर नियंत्रण करना होता है'' (औपनिवेशिक मानसिकता से मुक्ति, पृ. 129)। न्गुगी का मानना था कि उपनिवेशवाद अच्छी तरह समझता है कि राजनीतिक नियंत्रण के बिना आर्थिक नियंत्रण असंभव है, इसलिए वह सैनिक विजय हासिल कर उस देश पर अपना राज्य थोपता है। लेकिन इस राजनीतिक नियंत्रण को स्थाई रखने के लिए केवल सैनिक बल पर्याप्त नहीं होता इसके लिए सांस्कृतिक नियंत्रण की आवश्यकता होती है। इसलिए उपनिवेशवाद, ''एक ऐसी शिक्षा प्रणाली थोपता है जो संपत्ति के बारे में उपनिवेश की जनता को वास्तविक ज्ञान देने से इंकार तो करता ही है, साथ ही जनता के अंदर गुलाम चेतना पैदा करने वाली संस्कृति का भी प्रसार करता है'' (वही पृ. 129)।

न्गुगी ने औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के जो उद्देश्य और विशेषताएं बताई हैं उनको स्पष्ट रूप से मेकाले और ट्रेविलियन के कथनों में देखा जा सकता है। न्गुगी ने औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली के उद्देश्यों को और साफ करते हुए लिखा था कि, ... ''उपनिवेशों की जनता को यह पढ़ाया जाता है कि उनका कोई इतिहास नहीं है। मतलब यह है कि उन्होंने कभी भी प्रकृति के खिलाफ न कोई संघर्ष किया है और न उसे बदला'' (वही, पृ. 129)। ''औपनिवेशिक शिक्षा प्रणाली इस बात से इंकार करती है कि उपनिवेशों में रहने वाले लोगों के पास सही अर्थों में मानवीय भाषाएं थीं। इनकी भाषाओं को उपनिवेशवादियों ने ''वर्नाक्युलर'' (देशी भाषा) अर्थात् गुलामों की भाषा या महज बर्बर लोगों की बोली कहा। इसलिए उपनिवेशों में रहने वाले बच्चे अगर अपनी मातृभाषा बोलते हुए पकड़ लिए जाते हैं तो उन्हें सजा मिलती है और अगर वे अपने मालिकों की भाषा यानी फ्रेंच, अंग्रेजी, पुर्तगाली या इतालवी (अलग-अलग देशों में अलग-अलग शासन के अनुसार) बोलते हैं तो पुरस्कृत किए जाते हैं। इसका एक ही उद्देश्य है : उस बच्चे के अंदर अपनी भाषा और साथ ही अपनी भाषा के साथ जुड़े मूल्यों के प्रति हिकारत का भाव भर देना। इसका निहितार्थ यह है कि वह खुद को और उन लोगों को तिरस्कार की भावना से देखे जो ऐसी भाषा बोलते हैं, जिसके कारण उन्हें रोज-ब-रोज अपमान और कड़े से कड़ा दंड भुगतना पड़ता है। इसी का दूसरा पहलू यह है कि वह विजेता की भाषा का प्रशंसक बन जाता है, उस भाषा से जुड़े मूल्यों को श्रेष्ठ समझता है और उस भाषा को विकसित करने वालों के प्रति नतमस्तक हो जाता है'' (वही, पृ. 130)।

औपनिवेशक शासन से पूर्व भारत में शिक्षा

जिस अंग्रेजी पढ़े-लिखे वर्ग के बारे में न्गुगी ने लिखा है ठीक वैसा ही वर्ग भारत में बनने की उम्मीद अंग्रेजी शासकों ने की थी। लेकिन क्या अंग्रेजी शासक अपने मकसद में कामयाब हो पाए ? इस सवाल का उत्तर ढूंढ़ने से पहले संक्षेप में यह जांच लेना

उपयुक्त होगा कि औपनिवेशिक शासन से पूर्व भारत में शिक्षा की स्थिति क्या थी ? क्या भारत वास्तव में अज्ञान के अंधेरे में डूबा हुआ था ? क्या भारत को आधुनिक भारत बनाने का श्रेय अंग्रेजी शासकों को है? इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि औपनिवेशिक शासन से पूर्व भारत में कई तरह की समस्याएं विद्यमान थीं। लेकिन यह भी सच्चाई है कि औद्योगिक क्रांति से पहले दौर तक राधाकमल मुखर्जी का तो मानना था कि ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति से पहले तक भारत इंगलैण्ड और यूरोप के अधिकांश देशों की तुलना में काफी उन्नत था। विश्व व्यापार की धुरी बना हुआ था (डॉ. रामविलास शर्मा की पुस्तक भारतीय संस्कृति और हिंदी प्रदेश, भाग-2, पृ. 279 से उद्धृत)। राधाकमल मुखर्जी के अनुमान के अनुसार अठारहवीं सदी के मध्य में बंगाल में दस लाख बुनकर थे लेकिन अंग्रेजी राज्य कायम होते ही सन् 1770 में जो अकाल पड़ा, उसमें बुनकरों की आधी आबादी का सफाया हो गया और इसका नतीजा यह हुआ की उद्योग को भारी धक्का लगा (वही, पृ. 280)। यदि अंग्रेजों के शासन से पूर्व भारत औद्योगिक दृष्टि से यूरोप से अधिक विकसित था तो जाहिर है कि यह उन्नति अशिक्षित और पिछड़े हुए राष्ट्र में नहीं हो सकती थी। भारत के बने सूती वस्त्र यदि यूरोप और अमेरिका तक जाते थे और सूरत का बंदरगाह इतना बड़ा था कि वहां एक साथ पांच सौ जहाज लंगर डाल सकते थे तो ऐसा वह तभी कर सकता था जब न सिर्फ विभिन्न तरह के उत्पादों और विनिर्माणों से जुड़ी तकनीक एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित की जा रही थी बल्कि उसमें नवीन प्रयोग भी किए जा रहे थे। यदि ढाका की मलमल का एक थान अंगूठी से निकाला जा सकता था तो यह तभी संभव था कि कपड़ा निर्माण का उद्योग बहुत ही विकसित तकनीकों का इस्तेमाल कर रहा था। यह अवश्य था कि विनिर्माण की भारतीय तकनीकें काफी लंबे समय से इस्तेमाल हो रही थीं और उनमें आमूलचूल बदलाव की जरूरत थी। यह बदलाव वैज्ञानिक और यांत्रिक उन्नति के कारण यूरोप में अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में संभव हुआ। इसने भारतीय तकनीकों को काफी पीछे छोड़ दिया। ऊर्जा उत्पाद के उन स्रोतों का पता भी भारत नहीं लगा पाया था जिसके बल पर यूरोप और इंगलैंड को विनिर्माण के क्षेत्र में क्रांतिकारी बदलाव करने का अवसर मिल गया और भारतीय निर्माण की तकनीक यकायक पिछड़ी हुई प्रतीत होने लगी।

कठिनाई यह है कि जब भी हम भारत में प्राक्-औपनिवेशिक दौर में शिक्षा के बारे में विचार करते हैं तो हमारे सामने शिक्षा का वह स्वरूप उपस्थित होता है जो स्वयं अंग्रेजों की देन है और उसके अनुपस्थित होने को ही हम शिक्षा का अभाव मान लेते हैं। उन्नीसवीं सदी में भारत सरकार ने तीन प्रेसिडेंसियों में देशी स्कूलों के बारे में आंकड़े एकत्र करने का आदेश दिया। बंगाल और बिहार के बारे में जो रिपोर्ट तैयार की गई वह एडम रिपोर्ट के नाम से जानी जाती है। विलियम एडम नामक अंग्रेज अधिकारी ने सत्रह साल तक भारत में काम किया था। वह भारत की कई भाषाओं का जानकार था और देशी लोगों के प्रति उसके मन में वैसी दुर्भावना नहीं थी जैसी मेकाले और विलियम बेंटिक या चार्ल्स ट्रेविलियन में थी।

विलियम एडम ने अपनी रिपोर्ट से यह प्रमाणित किया कि शिक्षा का जो तरीका भारत में पहले से प्रचलित था वह भले ही आज की तरह नौकरशााही तंत्र से जकड़ा हुआ नहीं था लेकिन वह काफी हद तक लोकतांत्रिक था। इन शिक्षा संस्थानों में उपाधियों जरूर नहीं बांटी जाती थींलेकिन अध्यापक और शिष्य के बीच कहीं ज्यादा गहरा रिश्ता था। शिष्य अपने गुरु के पास रहकर ज्ञान और कौशल हासिल करता था और उनका साथ-साथ रहना किसी अवधि से या पैसे से बंधा नहीं होता था। जब तक गुरु और शिष्य महसूस करते वे साथ-साथ रहते और गुरु अपने शिष्य को वह सब कुछ सिखाता जिसको सीखने की इच्छा लेकर शिष्य अध्यापक के पास आया था। एडम ने यह भी बताया कि स्कूल जाति या धर्म के आधार पर नहीं बंटे थे। वे स्कूल जहां धर्म की शिक्षा दी जाती थी, उनको छोड़कर प्राय: दूसरे स्कूलों में सभी जाति और धर्म के बच्चे साथ-साथ शिक्षा प्राप्त करते थे। उनके अध्यापक अनिवार्य रूप से ब्राह्मण और मौलवी ही नहीं होते थे (विलियम एडम की रिपोर्ट के निष्कर्षों के लिए देखें, जोसेफ डि बोना की पुस्तक; क्रिटिकल पर्सपेक्टिव ऑन इंडियन एज्युकेशन के अध्याय 2 और 3)।

अंग्रेजों के शासन स्थापित करने से पूर्व भारत में तीन प्रकार की शिक्षा संस्थाएं थीं। एक, संस्कृत पाठशालाएं जहां ब्राह्मण शिक्षक अपने घरों पर अपने शिष्यों को शिक्षा प्रदान करते थे। दो, अरबी, फारसी और उर्दू की शिक्षा देने वाले मकतब और मदरसे जहां मुसलमान और हिंदू दोनों शिक्षा प्राप्त करते थे। तीन, प्राय: प्रत्येक गांव में एक स्कूल होता था जहां भाषा, गणित आदि विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। ईस्ट इंडिया कंपनी का राज स्थापित होने के बाद जब पुरानी किस्म की ग्राम पंचायतों को खत्म कर दिया गया तो इनके साथ-साथ ये स्कूल भी खत्म हो गए। (सामाजिक क्रांति के दस्तावेज भाग - 1 के सुंदर लाल के लेख 'भारतीय शिक्षा का सर्वनाश' से उद्धृत, पृ. 490)। पंडित सुंदर लाल ने इंगलैण्ड के संसद सदस्य केर हार्डी की पुस्तक 'इंडिया' से एक कथन उद्धृत किया है, जो उस समय की शिक्षा व्यवस्था को समझने के लिए पर्याप्त है। केर हार्डी के अनुसार, ''...उस समय बंगाल में 80,000 देशी पाठशालाएं थीं, अर्थात् सूबे की आबादी के हर चार सौ मनुष्यों के पीछे एक पाठशाला मौजूद थी।'' इतिहास लेखक लडलो अपने 'ब्रिटिश भारत का इतिहास' में लिखता है- ''प्रत्येक ऐसे हिन्दू गांव में जिसका कि पुराना संगठन अभी तक

कायम है, मुझे विश्वास है कि आमतौर पर सब बच्चे लिखना-पढ़ना और हिसाब करना जानते हैं; किंतु जहां कहीं भी हमने ग्राम पंचायत का नाश कर दिया है, जैसे बंगाल में, वहां ग्राम पंचायत के साथ गांव की पाठशाला भी लोप हो गई है'' (वही, पृ. 491)। इन तथ्यों के बावजूद यह सच्चाई है कि औपनिवेशिक शासन से पूर्व भारत में शिक्षा सभी वर्गों और लोगों को उपलब्ध नहीं थी। स्त्रियां प्राय: शिक्षा से वंचित थीं। इसी तरह निम्न समझी जाने वाली जातियां हाथ से काम करने वाले कौशलों (तकनीकों) को तो हासिल कर लेती थीं लेकिन भाषा, साहित्य, गणित, दर्शन आदि विद्याओं को वे बमुश्किल ही हासिल कर पाती थीं। इस संदर्भ में शिक्षाविद् आर.पी.सिंह का यह कथन उल्लेखनीय है, ''सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण बात यह है कि उस दौर में शिक्षा का वही मकसद नहीं था जो आज है। रोजगार हासिल करने के लिए शिक्षा की जरूरत बहुत कम लोगों को थी। यहां तक कि अभिजात वर्ग के लिए भी शिक्षा की जरूरत बहुत सीमित थी। निम्न जातियां ही नहीं सभी वर्गों की स्त्रियां भी शिक्षा प्राप्त करने से वंचित रहती थीं। संक्षेप में, बहुत कम लोगों को शिक्षा की जरूरत थी और शिक्षा की जो भी व्यवस्था उपलब्ध थी वह उनकी जरूरतों को पूरा करने की लिए पर्याप्त थी'' (सव्यसाची भट्टाचार्य द्वारा संपादित पुस्तक 'दि कंटेस्टेड टेरैन : पर्सपेक्टिव्ज ऑन एज्युकेशन इन इंडिया' पुस्तक में संग्रहीत लेख: ब्रिटि्श एज्युकेशन पॉलिसी इन नाइटिंथ सेंचुरी इंडिया, पृ. 100)। यहां बंगाल का उदाहरण लिया जा सकता है जहां अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले ज्यादातर ''अनुपस्थित'' भू स्वामी थे जिनके लिए पश्चिमी शिक्षा उनकी जरूरत नहीं बल्कि नई सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त करने के प्रतीक चिन्ह थी (जोसेफ बारा द्वारा अपने लेख में उद्धृत जे.एच. ब्रूमफिल्ड का कथन, दि कंटेस्टेड टेरैन, पृ. 153)। यह वर्ग जनता को शिक्षित करने के बारे में सहानुभूति नहीं रखता था। प्रसिद्ध राष्ट्रवादी इतिहासकार आर.सी. मजूमदार का भी मानना था कि, ''मेरा यह दृढ़ मत है कि उच्च जातियों से भर्ती किए गए अधिकांश सहायक निरीक्षण अधिकारी जनता की शिक्षा के प्रति पूरी तरह से मित्रवत नहीं थे'' (जोसेफ बारा द्वारा उद्धृत, वही, पृ. 155)।

नई तरह की शिक्षा की जरूरत

कार्ल मार्क्स ने जिसे उत्पादन की एशियाई पद्धति नाम दिया है, वह अपने में काफी हद तक आत्मनिर्भर और लगातार विकसित होने वाली थी। लेकिन इस बात पर गौर करने की जरूरत है कि भारत की समाज व्यवस्था खासतौर पर वर्ण व्यवस्था उसे बुनियादी तौर पर बदलने से रोकती थी। यही वजह है कि जब ईस्ट इंडिया कंपनी ने भारत में पहले से चली आ रही ग्राम पंचायत व्यवस्था को नष्ट कर नई तरह की लेकिन पहले से अधिक उत्पीड़नकारी व्यवस्था को कायम करना शुरू किया तो उसके साथ ही पहले से कायम वर्णव्यवस्था और धार्मिक भिन्नताओं ने उग्र और द्वेषपूर्ण रूप धारण करना शुरू कर दिया। पहले से चली आ रही ग्राम व्यवस्था और देशी उद्योग धंधों के नष्ट होने ने नए तरह के रोजगारों की जरूरतों को पैदा किया और नए तरह के रोजगारों के लिए नई तरह की शिक्षा की जरूरत भी महसूस की जाने लगी। उन्नीसवीं सदी का पूरा परिदृश्य इन नई जरूरतों के संदर्भ में ही समझा जा सकता है। गर्वनर जनरल विलियम बेंटिक, थॉमस मेकाले और ईसाई धर्म प्रचारक जिन कारणों से हिंदुस्तान में अंग्रेजी शिक्षा को कायम करने के समर्थक थे वही कारण राजाराम मोहन राय का नहीं था। प्राय: इस बात को समझने में गलती की जाती है कि अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने के मेकाले के विचारों का समर्थन कर राजाराम मोहन राय ने मेकाले की भारतीयों के बारे में समझ का भी समर्थन कर दिया है। जबकि राजाराम मोहन राय जिन कारणों से अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन कर रहे थे, वे मेकाले से बिल्कुल भिन्न थे। कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज खोले जाने का विरोध करते हुए जो पत्र राजाराम मोहन राय ने विलियम पिट लार्ड एमहर्स्ट को लिखा था उससे स्पष्ट है कि वे संस्कृत को पढ़ाए जाने के विरोधी नहीं थे बल्कि संस्कृत के नाम पर सिर्फ व्याकरण और आध्यात्मिक मीमांसा के पढ़ाए जाने के विरोधी थे। उनका मानना था कि, ''...सरकार का उद्देश्य यदि इस देश के पिछड़ी आबादी को विकसित करना है तो अच्छे परिणाम देने वाले एक अधिक उदार एवं उदात्त अध्ययन व्यवस्था का निर्माण करना होगा और गणित, प्राकृतिक विज्ञान, रसायन शास्त्र एवं शरीर विज्ञान जैसे उपयोगी विषयों की पढ़ाई के लिए यूरोप के अध्ययनशील एवं मेधावी महानुभावों को नियोजित करना होगा एवं इसके लिए समुचित राशि उपलब्ध कराने की दिशा में प्रस्ताव लेना होगा। साथ ही यथेष्ट ग्रंथों, यंत्रों एवं प्रयोग सामग्रियों के साथ एक कॉलेज खोलने का भी प्रावधान करना होगा'' (सामाजिक क्रांति के दस्तावेज-भाग-2, पृ. 77)। लेकिन अंग्रेजी शासकों का मकसद ऐसी किसी उदार और उदात्त अध्ययन व्यवस्था का निर्माण करना नहीं था। वे तो जैसा कि मेकाले ने कहा था ऐसे अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त भारतीय निर्मित करना चाहते थे जो अपनी परंपरा और विरासत से पूरी तरह कटे हुए हों, जिनमें अपने देश और उसकी सभ्यता और संस्कृति के प्रति हीन भावना हो और जो अंग्रेजी शासकों को अपने से श्रेष्ठ, सभ्य और सुसंस्कृत समझें और उन्हीं का अनुकरण करें।

अंग्रेजी शासक अपने मकसद में कुछ हद तक कामयाब रहे लेकिन यह समझना भूल होगी कि पूरी तरह कामयाब रहे। जिस अंग्रेजी भाषा और साहित्य के प्रभाव में आकर अंग्रेजी शिक्षित वर्ग का अंग्रेजी सत्ता का समर्थक होने का स्वप्न अंग्रेजी शासक देख रहे थे, वह स्वप्न पूरा नहीं हो पाया। यह सही है कि अंग्रेजी शिक्षित

भारतीयों ने उन्नीसवीं सदी के अंत तक ब्रिटिश राजसत्ता के प्रति अपनी निष्ठा को बनाए रखा लेकिन यह भी सही है कि उन्हीं में से बहुत से ऐसे भारतीय भी थे जिन्होंने अंग्रेजी शिक्षा के अध्ययन से ही आजादी, लोकतंत्र, समानता और प्रगति की आधुनिक धारणाओं से परिचय प्राप्त किया और धीरे-धीरे यह समझ पाए कि अंग्रेजी शासन किसी ईश्वर का वरदान नहीं बल्कि भारतीयों के लिए अभिशाप है। अंग्रेजी सत्ता किसी कल्याणकारी भावना से प्रेरित होकर यहां शासन नहीं कर रही है बल्कि भारत की लूट-खसोट के लिए वह ऐसा कर रही है। स्वयं राजाराम मोहन राय ने अंग्रेजी शासकों की उन नीतियों का विरोध किया था जो लोगों की अपने विचारों को अभिव्यक्ति से वंचित करते थे। राजाराम मोहन राय ने भारतीय प्रेस पर प्रतिबंध लगाने वाले कानूनों का भी दृढ़तापूर्वक विरोध किया था। यह सही है कि वे अंग्रेजी भाषा की शिक्षा के समर्थक थे लेकिन उन्होंने अपने जीवन के आखिरी पंद्रह सालों में अधिकांश पुस्तकें बंगला भाषा में लिखीं और कुछ लेखन पारसी, हिंदी आदि भाषाओं में भी किया ताकि वे अपना संदेश आम लोगों तक ज्यादा से ज्यादा पहुंचा सकें।

पश्चिमी शिक्षा बनाम आधुनिक शिक्षा

लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष और आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करने वाली जिस शिक्षा प्रणाली की शुरूआत का श्रेय प्राय: अंग्रेजों को दिया जाता है वह स्वयं इंगलैण्ड के लिए कोई बहुत पुरानी नहीं थी। उन्नीसवीं सदी में इंगलैण्ड आधुनिक अर्थों में जिसे उच्च शिक्षा से संपन्न प्रगतिशील राष्ट्र कहा जाता है, उस श्रेणी में नहीं आता था। यही नहीं जैसे-जैसे वह समृद्ध, सामाजिक रूप से उन्नत और साक्षर होता गया वैसे-वैसे उसके उपनिवेश इन सब मामलों में विपन्न होते चले गए (आर.पी.सिंह का लेख ब्रिटिश एज्यूकेशनल पॉलिसी इन नाइटिन्थ सेंचुरी इंडिया: दि कंटेस्टैड टैरैन से उद्धृत, पृ. 117)। यही वजह है कि गांधीजी ने 1931 में लंदन में अपने एक व्याख्यान के दौरान यह कहा था कि, ''आज हिंदुस्तान आज से पचास और सौ साल पहले की तुलना में कहीं ज्यादा निरक्षर है'' (उपर्युक्त लेख से उद्धृत, वही, पृ. 115)। दरअसल, पश्चिम की नई शिक्षा पद्धति के बहुत से सकारात्मक पक्षों की प्रेरणा अठारहवीं सदी में यूरोप और विशेष रूप से फ्रांस में चले ज्ञानोदय के प्रभाव से प्राप्त हुई थी और जिसका सबसे कम असर इंगलैण्ड में दिखाई देता था।

अंग्रेजी शिक्षा के प्रसार का लक्ष्य स्वीकार करने के बावजूद भारत में अंग्रेजों ने शिक्षा के लिए ज्यादा प्रयत्न नहीं किए थे। ब्रिटिश राज की नीति देशी शिक्षा संस्थानों को प्रोत्साहित करने की नहीं थी लेकिन वे उसके विरुद्ध भी नहीं थे। उन्होंने जिन व्यापारिक गतिविधियों का फैलाव किया था और जो नए तरह के प्रशासनिक संस्थान स्थापित किए थे, उसी वजह से धीरे-धीरे देशी किस्म के स्कूलों के लिए हालात प्रतिकूल होते गए। ब्रिटिश सरकार ने जिन सरकारी स्कूलों की स्थापना की उनका मकसद शिक्षकों को प्रशिक्षित करना था और उसी से संबंधित उपाधियां दी जाती थीं। अंग्रेजी वहां एक विषय के रूप में ही थी। दरअसल अंग्रेजी शिक्षा का प्रसार सहायता प्राप्त विद्यालयों और निजी स्कूलों द्वारा ही हुआ था। निजी स्कूलों ने ही अंग्रेजी को माध्यम के रूप में भी स्वीकार किया था (वही, पृ. 115)। सहायता प्राप्त स्कूलों के लिए भी अंग्रेजी सरकार से सहायता अधिक नहीं मिलती थी बल्कि उनका नियंत्रण ज्यादा होता था। इस तरह अंग्रेजों ने शिक्षा के प्रसार को कभी भी अपना लक्ष्य नहीं बनाया। ज्यादा से ज्यादा यह कहा जा सकता है कि शिक्षा के सार्वभौमिकरण के लिए जो प्रयत्न किए जाने थे, जिसके लिए हर गांव में प्राइमरी और सैकेंडरी स्कूल खोले जाने थे, उस दिशा में अंग्रेज सरकार ने प्राय: कोई उल्लेखनीय कदम नहीं उठाया। उनकी थोड़ी बहुत दिलचस्पी उच्च शिक्षा में ही दिखी। इसलिए आधुनिक शिक्षा के विकास के लिए उनको जिम्मेदार ठहराना या उनको श्रेय देना पूरी तरह से सही नहीं है।

अंग्रेजी शासक जो शिक्षा यहां फैला रहे थे भारत की लूट के अलावा एक मकसद हिंदुस्तान को ईसाई बनाना भी था। वे यह सोचते थे कि अंग्रेजी किस्म की शिक्षा के प्रभाव में आकर हिन्दुस्तान के लोग धर्मांतरण करेंगे लेकिन उनकी यह मनोकामना भी पूरी नहीं हो सकी। अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाला वर्ग धर्मांतरण से प्राय: दूर ही रहा और थोड़ा-बहुत असर हुआ भी तो उन दलितों और आदिवासियों के बीच जो हिंदू और मुसलमान समुदायों से या तो अलग-थलग थे या उनके द्वारा सदियों से उत्पीड़ित थे और जिनके बीच ईसाई मिशनरियों ने काफी काम किया था। स्पष्ट ही धर्मांतरण की यह कोशिश भी अंग्रेजी शिक्षा के कारण नहीं हुई थी। उसके पीछे शैक्षिक कारण से ज्यादा सामाजिक कारण मौजूद थे।

शिक्षा का राष्ट्रवादी विमर्श

राजाराम मोहन राय के समय से लेकर आजादी हासिल होने तक शिक्षा को लेकर भारतीयों के बीच निरंतर बहस चलती रही थी। यह समझना भ्रामक होगा कि नवजागरण और आजादी के आंदोलन से जुड़े महापुरुष एक ही तरह की शिक्षा पद्धति के समर्थक थे। यह कहा जा चुका है कि अंग्रेजी शिक्षा का समर्थन करते हुए भी राजाराम मोहन राय विज्ञान और विवेक पर आधारित शिक्षा भारत में फैलाना चाहते थे। उनका मानना था कि यह काम संस्कृत, अरबी या फारसी द्वारा नहीं हो सकता, सिर्फ अंग्रेजी शिक्षा द्वारा ही हो सकता है क्योंकि यह भाषा दुनिया की तरफ खुलने वाली खिड़की का काम कर सकती है। इसी अंग्रेजी के द्वारा खुद राजाराम मोहन राय वाल्तेयर के विचारों से अवगत हो सके थे। इसी अंग्रेजी शिक्षा ने दादा भाई नौरोजी को यह समझ प्रदान की थी कि भारत

में जो ब्रिटिश सत्ता कायम है उसने भारतीयों को वे अधिकार नहीं दिए हैं जिन अधिकारों का उपभोग इंगलैण्ड में रहने वाले ब्रिटिश नागरिक करते हैं। लेकिन यहां यह कहना भी आवश्यक है कि भारतीयों को अपनी दासता का एहसास अंग्रेजी शिक्षा के कारण ही हुआ, यह समझना सही नहीं है। यदि भारतीयों को अंग्रेजी और आधुनिक शिक्षा से पूरी तरह वंचित रखा जाता तो भी वे औपनिवेशिक दासता के यथार्थ को पहचान लेते। आखिर 1857 के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम में शामिल होने वाले सैनिकों और किसानों में अपनी गुलामी का एहसास तो था ही और उन्होंने यह सही चिन्हित कर लिया था कि अंग्रेजों ने उनके देश को गुलाम बना लिया है जिससे मुक्ति हिन्दू और मुसलमानों को आपस में मिलकर पानी है।

राष्ट्रवादी शिक्षा का पुनरुत्थानवादी दृष्टिकोण

उस दौर में शैक्षिक क्षेत्र में जो परिवर्तन हो रहे थे उसने भारतीयों को इस बात के लिए भी सजग किया कि वे अपनी परंपरा को नए सिरे से पहचानें। ये कोशिशें हमें दो रूपों में होती हुई दिखाई देती हैं। भारतीयों का एक ऐसा समूह सामने आया जो यह मानता था कि भारत की प्राचीन परंपरा बहुत गौरवशाली है और जो भी पतनशील बात आज नजर आ रही है वह मुस्लिम शासन की वजह से पैदा हुई हैं, अन्यथा भारत तो ज्ञान के क्षेत्र में विश्व का गुरु रहा है। जरूरत इस बात की है कि हम अपनी उसी प्राचीन धरोहर से जुड़ें और उसे पुन: स्थापित करने की कोशिश करें। स्वामी दयानंद सरस्वती इस तरह की धारणा के सबसे बड़े उद्घोषक थे। उन्होंने वेदों में उस स्वर्ण युग को खोज निकाला था और जिन बातों का भी श्रेय पश्चिम को दिया जा रहा था, उनका मूल उत्स भी वेदों में खोज लिया गया था। स्वामी दयानंद सरस्वती ने शिक्षा का जो स्वरूप प्रस्तुत किया वह उनकी इसी पुनरुत्थानवादी अवधारणाओं के अनुकूल था। यद्यपि वे स्त्री शिक्षा के समर्थक थे लेकिन उन्होंने जिस तरह की शिक्षा दिए जाने की वकालत की वह गुरुकुल पद्धति की शिक्षा थी जहां विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए वेदों, उपनिषदों, स्मृतियों आदि का अध्ययन करना होता था। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा के बजाए वे प्राचीन विद्याओं के अध्ययन पर ही बल दे रहे थे। इसी तरह वे प्राचीन धार्मिक ग्रंथों में वर्णित नैतिक शिक्षा को विद्यार्थियों के लिए अनिवार्य बनाना चाहते थे और उसी दृष्टि से वे बाल विवाह आदि कुरीतियों का विरोध कर रहे थे। स्त्री शिक्षा का समर्थन करने के बावजूद वे सह-शिक्षा का विरोध करते थे। और चाहते थे कि लड़के और लड़कियों के स्कूल एक-दूसरे से कम-से-कम दो कोस दूर होने चाहिए (स्वामी दयानंद सरस्वती के शिक्षा संबंधी विचारों के लिए दृष्टव्य: एस.पी.चौबे कृत 'एज्यूकेशनल फिलोसोफिज इन इंडिया', पृ. 37-44)। स्वामी दयानंद सरस्वती के शैक्षिक आदर्शों को अमली जामा पहनाने के लिए लाहौर में 1886 में दयानंद एंग्लो वैदिक (डीएवी) कॉलेज की स्थापना की गई। लाहौर का संस्थान काफी कामयाब साबित हुआ और शिक्षा के क्षेत्र में देशी प्रयत्नों का एक उत्कृष्ट उदाहरण बना। आज भी उत्तर भारत में डीएवी कॉलेजों और स्कूलों का व्यापक संजाल मौजूद है। लेकिन यह भी सही है कि इन शिक्षा संस्थानों ने स्वामी दयानंद सरस्वती के आदर्शों से ज्यादा आधुनिक शिक्षा पद्धति के अनुकरण पर बल दिया। इसी का परिणाम था कि पंजाब के आर्यसमाजी नेता लाला हंसराज जो बाद में स्वामी श्रद्धानंद के नाम से जाने गए, उन्होंने 1902 में हरिद्वार के पास गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की। यह संस्थान बिल्कुल उसी पद्धति से शिक्षा देने के लिए खोला गया था जिस पद्धति की बात स्वामी दयानंद ने कही थी। कई सालों तक यह संस्थान इसी तरह की शिक्षा देता रहा लेकिन इसे उतनी सफलता और लोकप्रियता नहीं मिल सकी जो डीएवी कॉलेजों को मिली थी। सरकार द्वारा डीम्ड यूनिवर्सिटी की मान्यता दिए जाने के बाद गुरुकुल कांगड़ी में भी काफी बदलाव आ चुका है।

राष्ट्रवादी शिक्षा का आधुनिक दृष्टिकोण

भारतीयों का दूसरा समूह ऐसा था जो यह स्वीकार करता था कि भारतीय परंपरा में सब कुछ अच्छा ही नहीं है, बल्कि सामाजिक जीवन में बहुत कुछ ऐसा है जिसे तत्काल त्यागने की जरूरत है। इनमें जातिप्रथा, छुआछूत, सती प्रथा, वैधव्य, बाल विवाह, बहु-विवाह आदि कुप्रथाएं थीं जिनसे छुटकारा पाए बिना भारतीय समाज की तरक्की संभव नहीं थी। राजाराम मोहन राय, ज्योतिबा फुले, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, नारायण गुरु, पेरियार रामास्वामी नायस्कर, बाबा साहब अंबेडकर आदि विचारकों को इसी श्रेणी में रखा जा सकता है। विवेकानंद, गांधी आदि में इन दोनों तरह की प्रवृत्तियों का सम्मिश्रण दिखाई देता है। इसी तरह की प्रवृत्तियां हमें मुस्लिम समाज में भी दिखाई देती हैं जहां सर सैयद अहमद खां ने मुस्लिम समाज में आधुनिक शिक्षा की ज्योति जगाने की कामयाब कोशिश की थी।

इन भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियों ने शिक्षा संबंधी समझ पर भी असर डाला। संस्कृत, अरबी, फारसी आदि भाषाओं का महत्त्व स्वीकार करते हुए भी और इसके लिए कुछ संस्थानों की स्थापना किए जाने के बावजूद अधिकांश प्रयास अंग्रेजी शिक्षा प्रदान करने की ओर ही झुके दिखाई दिए। यह जरूर है कि अंग्रेजी अपना एकछत्र साम्राज्य कायम करने में कामयाब नहीं हो सकी और जैसे-जैसे आजादी के आंदोलन में किसानों और मजदूरों की भागीदारी बढ़ती गई वैसे-वैसे इस बात को भी महसूस किया जाने लगा कि शिक्षा को उच्च और अभिजात वर्गों से निकालकर आम आदमी तक पहुंचाया जाए। यह कार्य सिर्फ अंग्रेजी के माध्यम से नहीं हो सकता था। जिसे वर्नाक्युलर कहकर अंग्रेजों ने हिकारत के भाव से देखा था, उन देशी भाषाओं में शिक्षा प्रदान करने की जरूरत को प्राय:

सभी महापुरुषों ने स्वीकार कर लिया था।

इसी तरह आरंभ से ही यह महसूस किया जाने लगा कि शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार सिर्फ पुरुषों को ही नहीं स्त्रियों को भी होना चाहिए। इस दिशा में आरंभिक प्रयत्न करने वालों में ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ज्योतिबा फुले आदि का नाम लिया जा सकता है। यह बात भी गौर करने लायक है कि शिक्षा के बारे में वे महापुरुष ही ज्यादा सजग थे जो सामाजिक सुधार और राजनीतिक पराधीनता से मुक्ति के लिए प्रयत्न कर रहे थे। ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने यह महसूस कर लिया था कि स्त्री शिक्षा के लिए समाज में कोई जगह नहीं है। समाज में स्त्रियों की जगह को बेहतर बनाने के लिए उन्होंने बंगाल के विभिन्न स्थानों पर लड़कियों के लिए कई स्कूलों की स्थापना की। उनके द्वारा खोले गए ऐसे स्कूलों की संख्या लगभग 1200 थी। इस संख्या से यह समझा जा सकता है कि उन्होंने इसके लिए कितने बड़े पैमाने पर कार्य किया होगा। इसी तरह ज्योतिबा फुले ने स्त्री शिक्षा को बढ़ावा देने के लिए खुद तो प्रयत्न किया ही साथ ही अपनी पत्नी सावित्री बाई फुले को भी शिक्षित किया और बाद में वे भी अपनी पति के साथ इसी महत्ती कार्य से जुड़ गई। ज्योतिबा फुले के कार्यों का महत्त्व एक और वजह से ज्यादा है कि उन्होंने स्त्रियों और दलितों दोनों में शिक्षा का प्रचार करने का प्रयत्न किया।

इसी तरह ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने यह भी महसूस किया कि आधुनिक शिक्षा का व्यापक प्रसार तभी संभव है जब शिक्षा का माध्यम मातृभाषा हो। उन्होंने इसके लिए बंगला भाषा में स्वयं कई पाठ्यपुस्तकें लिखीं। व्याकरण और गणित जैसे विषयों के साथ-साथ उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत आदि भाषाओं में लिखे गए श्रेष्ठ साहित्य का बंगला में अनुवाद भी किया। नवजागरण और राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रभाव की वजह से भारतीयों में अपनी परंपरा के प्रति सम्मान की जिस भावना का उदय हो रहा था, उसी ने आधुनिक भारतीय भाषाओं में साहित्य रचने को भी प्रेरित किया। आजादी के आंदोलन के बढ़ने के साथ-साथ और उसमें बढ़ती लोगों की भागीदारी ने भी आधुनिक भारतीय भाषाओं के महत्त्व को बढ़ा दिया था।

औपनिवेशिक दौर के नए शिक्षा संस्थान

राजाराम मोहन राय ने आधुनिक शिक्षा की अपनी समझ के अनुसार नए कॉलेजों की स्थापना के लिए प्रयत्न किया था। यह पहले ही कहा जा चुका है कि राजाराम मोहन राय ने संस्कृत कॉलेज की स्थापना का विरोध किया था। लेकिन 1817 में कलकत्ता में स्थापित होने वाले हिंदु कॉलेज की स्थापना के प्रयत्न में वे साझीदार बने। आधुनिक शिक्षा की इन कोशिशों में उन अंग्रेजों का भी हाथ था जो भारत और यहां की परंपरा के प्रति सहानुभूति रखते थे और मेकाले ने जिनकी पौर्वात्यवादी कहकर आलोचना की थी। इन्हीं में से एक सर विलियम जोन्स ने 1784 में पौर्वात्य अध्ययन को प्रोत्साहन देने के लिए एशियाटिक सोसाइटी की स्थापना की थी, जिसने भारत की प्राचीन परंपरा के अध्ययन में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। इसी तरह डेविड हरे के प्रयत्नों से ही हिंदू कॉलेज की स्थापना संभव हो सकी थी। इसी कॉलेज को बाद में प्रेसीडेंसी कॉलेज का नाम दिया गया। भारतीय नवजागरण के एक महत्त्वपूर्ण पुरोधा और पश्चिम और पूर्व के सांस्कृतिक मिलन के प्रतीक चिन्ह हेनरी लुइस विवियन डेरीजियो का संबंध भी इसी प्रेसिडेंसी कॉलेज से रहा था। उन्होंने इस कॉलेज में अध्यापक के रूप में काम किया था। एक और भारतीय विद सर विलियम केरी ने 1819 में सीरामपुर में सीरामपुर कॉलेज की स्थापना की थी। 1823 में केरी ने एग्री हॉर्टिकल्चरल सोसाइटी और 1827 में पहले आधुनिक विश्वविद्यालय की स्थापना की थी। ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने लंदन विश्वविद्यालय के अनुकरण पर बनने वाले कलकत्ता विश्वविद्यालय की स्थापना में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। 1835 में कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की स्थापना की गई थी जो एशिया का पहला मेडिकल कॉलेज था।

यह प्रक्रिया सिर्फ बंगाल तक सीमित नहीं थी बल्कि पूरे भारत के अपने-अपने ढंग से चलती रही। मदनमोहन मालवीय के प्रयत्न से बनारस में बनारस हिंदू विश्वविद्यालय की स्थापना और सर सैयद अहमद खां के प्रयत्न से जिस अलीगढ़ कॉलेज की स्थापना 1877 में की गई थी वह भी 1920 तक आते-आते अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय में रूपांतरित हो गया।

राष्ट्रवादी शिक्षा : रवीन्द्रनाथ और गांधी के योगदान का महत्त्व

शिक्षा के प्रचार के लिए इन महापुरुषों द्वारा किए जाने वाले प्रयत्नों की विशिष्टता यह भी है कि इन्होंने यह महसूस कर लिया था कि शिक्षा के सार्वभौम प्रसार के लिए केवल सरकारी अनुदानों और कोशिशों पर निर्भर रहना पर्याप्त नहीं है। यदि उन्होंने सरकार के प्रयत्नों में भी हिस्सेदारी की थी तो दूसरी ओर अपने प्रयत्नों से भी स्कूल, कॉलेज आदि खोले। बंगाल में इन प्रयत्नों का सर्वोत्तम उदाहरण रवीन्द्रनाथ ठाकुर द्वारा शांतिनिकेतन की स्थापना करना था। रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने 1901 में कलकत्ता से सौ मील दूर एक ग्रामीण अंचल में पहला स्कूल खोला। यही स्थान बाद में शांति निकेतन के नाम से जाना गया। शांति निकेतन रवींद्र का एक नया प्रयोग था। यह न तो पुराने ढंग का गुरुकुल था और न ही नए ढंग का कॉलेज या विश्वविद्यालय। रवींद्र की शिक्षा संबंधी समझ राष्ट्रवादियों से भिन्न और मौलिक किस्म की थी। उन्होंने अपने स्कूल को राष्ट्रवादी संस्थान नहीं बल्कि कवि का स्कूल कहा था। उमा दास गुप्त के अनुसार, रवींद्रनाथ और गांधी दोनों ने भारत की

सांस्कृतिक अस्मिता और आत्म-सम्मान को जाग्रत करने के लिए उसके अतीत की तरफ देखा। गांधी ने इसके लिए लोक-परंपरा की तलाश की तो रवींद्र ने भारतीय मानस पर यूरोपीय पुनर्जागरण के प्रभाव को स्वीकारते हुए भी शास्त्रीय परंपरा में इसे खोजा। दरअसल, रवींद्र और गांधी दोनों ही राष्ट्र निर्माण की कोशिश भारतीय व्यक्तित्व के विकास के द्वारा करना चाहते थे। गांधी की तरह रवींद्र भी चाहते थे कि भारतवासी अपनी गुलामी के लिए अंग्रेजों की ताकत को दोषी मानना छोड़कर अपनी कमजोरियों पर विजय प्राप्त करने की कोशिश करें। यही आत्म-सम्मान की खोज थी। गांधी ने इसे नैतिक और राजनीतिक तरीकों से हासिल करने की कोशिश की तो रवींद्र ने इसे भारत की मानवतावादी और सांस्कृतिक विरासत में तलाश करने कोशिश की (उमा दासगुप्त का लेख: टैगोर्स एज्युकेशनल एक्सपेरिमेंटस, दि कंटेस्ट टैरेन में संकलित, पृ. 266)।

उमा दास गुप्त के अनुसार, भारतीय समाज में व्याप्त विभाजन के प्रति गांधी और रवींद्रनाथ दोनों ही चिंतित थे। ये विभाजन भारत के अतीत में निहित थे लेकिन औपनिवेशिकता ने इसे सतह पर ला दिया था। दोनों ने भारतीय समाज के एक सबसे बड़े वर्ग किसान को अपनी चिंता के केन्द्र में रखा। उन्नीसवीं और बीसवीं सदी में जिस बात से रवींद्रनाथ सबसे अधिक परेशान थे वह यह थी कि किसान अभी भी अपनी परंपरा के बोझ तले दबा हुआ था, भारत का पश्चिम शिक्षा प्राप्त शहरी युवक इनके प्रति लगातार उदासीन होता जा रहा था। यह शायद औपनिवेशिक वर्चस्व का ही परिणाम था कि दोनों ही अपने समाज की बीमारियों के इलाज के लिए बाहरी शासकों से भीख मांग रहे थे। इसी अवमानना को, शासक नहीं बल्कि शासितों की मानसिकता को रवींद्रनाथ ने अपनी आलोचना का लक्ष्य बनाया था। इसके लिए शिक्षा उनको समाधान के रूप में दिखाई देती थी जिसके द्वारा शहरी अभिजात वर्ग और ग्रामीण लोक को एक दूसरे के नजदीक लाया जा सकता था। शहर से आधुनिक विज्ञान और प्रौद्योगिकी और गांव से परंपरागत ज्ञान और कौशल जिसकी कि शहरी लोग उपेक्षा कर रहे थे एक दूसरे के नजदीक लाने की कोशिश रवींद्र ने की। शांतिनिकेतन के स्कूल की पाठ्यचर्या में इन दोनों प्रवृत्तियों का समावेश किया गया था।

दरअसल गांधी और रवींद्रनाथ ने ही भारतीय शिक्षा को सही राष्ट्रवादी और मानवतावादी आधारभूमि प्रदान की। जो परंपरा के अस्वीकार पर नहीं बल्कि उसको आत्मसात करते हुए लोकतांत्रिक, धर्मनिरपेक्ष, समतावादी मूल्यों और पूरे भारतीय जन की जरूरतों के अनुकूल हो। गांधी किस तरह की शिक्षा के समर्थक थे यह उनके इस कथन से स्पष्ट होता है। वे लिखते हैं,''वास्तविक कठिनाई यह है कि लोगों को यह पता ही नहीं है कि सच्ची शिक्षा क्या है। हम शिक्षा का मूल्यांकन उसी तरह करते हैं जिस तरह हम किसी जमीन का या स्टॉक एक्सचेंज में शेयरों का करते हैं। हम ऐसी ही शिक्षा देना चाहते हैं जो विद्यार्थी को अधिक से अधिक कमाना सिखाए। हम शिक्षित लोगों के चरित्र को सुधारने के लिए शायद ही कोई प्रयत्न करते हैं। हम कहते हैं कि चूंकि लड़कियां नहीं कमाती हैं इसलिए उन्हें पढ़ने की क्या जरूरत। जब तक इस तरह की धारणा हमारे मानस में बनी रहेगी तब तक शिक्षा का सच्चा महत्त्व हम नहीं समझ पाएंगे।'' कृष्ण कुमार का यह कहना बिल्कुल सही है कि गांधी ने जिस दृढ़ता से औपनिवेशिक शिक्षा को अस्वीकार किया उतनी दृढ़ता से किसी और ने उसे अस्वीकार नहीं किया था और उसके विकल्प के रूप में जैसी मूलगामी शिक्षा उन्होंने प्रस्तावित की वैसी और कोई नहीं कर सका। गांधी जिस बुनियादी शिक्षा की बात करते थे उसमें पश्चिम के औद्योगिकरण से उत्पन्न नई स्थितियों के अनुकूल शिक्षा के लिए कोई जगह नहीं थी। जिस तरह उन्होंने स्वावलंबी ग्राम स्वराज की कल्पना प्रस्तुत की थी उसी तरह वे चाहते थे कि प्रत्येक स्कूल भी ज्ञान और कौशल के मामले में स्वावलंबी हो। विद्यार्थी उस स्कूल से वह सीख के जाए जो ग्राम स्वराज के लक्ष्यों के अनुकूल हो। भारी औद्योगीकरण और उस पर आधारित शिक्षा उनके आदर्शों के अनुकूल नहीं बैठती थी। उनके इन आदर्शों के अनुरूप ही गुजरात में गुजरात विद्यापीठ और काशी में काशी विद्यापीठ की स्थापना की गई थी। लेकिन ये विद्यापीठ बदलते समय के अनुकूल कामयाब नहीं हो सके और आज वे सरकारी अनुदानों पर टिके हुए संस्थान ही हैं और गांधी के आदर्शों के अनुकूल शिक्षा वहां हाशिए पर भी नहीं बची है।

दरअसल शिक्षा के राष्ट्रवादी प्रयास जो आजादी के दौर में सामने आए उनके महत्त्व को स्वीकार करते हुए भी यह मानना होगा कि आजाद भारत में जिस नए शासक वर्ग ने सत्ता संभाली थी, वह उसकी जरूरतों के अनुकूल नहीं थी। इस वर्ग की आकांक्षा यूरोप और अमेरिका के शासक वर्गों से मेल खाती थी इसलिए आजादी के बाद पश्चिम के अनुकरण वाली कथित पश्चिमी शिक्षा अधिक निर्बाध रूप से लागू हो सकी। इस नई शिक्षा में निश्चय ही एक तरह का लचीलापन भी है जिसमें आधुनिक समाज के लोकतांत्रिक मूल्यों के प्रसार के लिए भी जगह बनी हुई है और दूसरी ओर तत्ववादी और सांप्रदायिक शैक्षिक दृष्टिकोण भी अपना दबाव कायम करने में कामयाब हो जाता है। गांधी और रवींद्र के प्रयोगों के महत्त्व को ही नहीं उसकी प्रसांगिकता पर भी विचार करने की जरूरत है, क्योंकि आज गांधी की कही हुई यह सच्चाई अधिग उग्र रूप से उपस्थित है कि शिक्षा का मकसद ऐसे लोगों को तैयार करना हो गया है जो बस अधिक से अधिक पैसा कमाने को ही अपने जीवन का लक्ष्य समझें। ◆